सम्राट् अशोक के अभिलेखों में निहित आचारपरक शिक्षाएँ

डॉ. सत्यनारायण भारद्वाज
सहायक आचार्य
संस्कृत एवं प्राकृत विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं–341306 (राजस्थान)

भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। ज्ञान की अविरल धारा का प्रवाह पूर्व वैदिक काल से लेकर अद्यावधि गतिमान है। हमारे देश में शिक्षा के क्षेत्र में बहुत उन्नति की है लेकिन समय–समय पर हमारे समक्ष विजातीय संस्कृतियों की चुनौती अवश्य खड़ी हुई है। यथा–मौर्यों के पतन के बाद विदेशी शासन, तत्पश्चात् हिन्दू राजाओं के पतन के बाद इस्लामी शासन तथा इस्लामी शासन के पतन के बाद अंग्रेजी शासन। इस कालावधि में चले विजातीय शासन के उपरान्त भी हमारी भारतीय संस्कृति की अस्मिता पर कभी संकट नहीं आया। देश–काल की परिस्थितियों के अनुसार कुछ प्रथाएं आज निरर्थक एवं अप्रासंगिक है। अतः इन प्रथाओं को पुनः रूपान्तरित करने की आवश्यकता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनसे आज की कुछ महत्त्वपूर्ण शैक्षिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में स्पष्ट रूप से वर्तमान प्रमुख राष्ट्रीय शैक्षिक समस्याओं को रेखांकित किया गया है। सबके लिए शिक्षा को भारत के भौतिक व आध्यात्मिक विकास की बुनियादी आवश्यकता बताया गया है। इसमें शिक्षा को वह साधन बताया गया है, जिसकी सहायता से संविधान में प्रतिष्ठित समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र की प्राप्ति हो सके। इस नीति में कुछ शैक्षिक समस्याएं इस प्रकार हैं–नैतिक मूल्यों का ह्रास, निरक्षरता, शैक्षिक गुणवत्ता में कमी, जनसंख्या शिक्षा के प्रसार में कमी, पर्यावरणीय शिक्षा में कमी तथा अनुशासनहीनता आदि।

मैंने अपने इस शोधालेख में केवल नैतिक मूल्यों के उन्नयन में अशोक के अभिलेखों में निहित आचारपरक शिक्षाएं किस प्रकार उपयोगी सिद्ध हो सकती है, इस समस्या के संदर्भ में उनका उल्लेख किया है।

भारतीय समाज एक परम्परागत समाज है। परम्परागत शैक्षिक मूल्य आज भी भारतीय समाज में मान्य हैं लेकिन स्वतंत्रता के बाद प्रचलित शिक्षा प्रणाली में मूल्यों की शिक्षा पर अधिक ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आधुनिक भारतीय शिक्षा द्वारा संस्कारयुक्त परिष्कृत मनुष्यत्व का निर्माण नहीं हो पा रहा है। संविधान सम्मत और परम्परागत शैक्षिक मूल्यों को शिक्षार्थियों में समाहित करने में प्रचलित शिक्षा प्रणाली विफल सिद्ध हो रही है। इसीलिए आज भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास दृष्टिगत हो रहा है। इस कारण भ्रष्टाचार और राष्ट्रीयता का संकट जैसी समस्याएं सामाजिक एकता और राष्ट्रीय अखण्डता के सम्मुख एक चुनौती के रूप में खड़ी है। प्रचलित शिक्षा प्रणाली में वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय मूल्यों में तारतम्यता एवं संगतता

दिखलाई नहीं पड़ती। अतः अशोक के अभिलेखों में निहित अनेक आचारपरक शिक्षाएं वर्तमान शिक्षा–प्रणाली को मजबूत एवं स्वस्थ बना सकती है। इन अभिलेखों में निहित कुछ आचारपरक शिक्षाओं का वर्णन वर्तमान संदर्भों में करना इस शोधालेख का मुख्य ध्येय है।

अभिलेख भारतीय इतिहास के अड़िग स्तम्भ एवं भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं। भारत के विभिन्न कालों के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन का बिम्ब तथा शिक्षा की स्थिति आदि इन अभिलेखों में ही सबसे अधिक यथार्थ रूप में दृष्टिगत होती हैं। जहाँ ये प्राचीन अभिलेख अनेक खोई हुई कड़ियां जोड़कर, प्राचीन भारत के विविध आयामों को समझने में एक प्रवाह प्रदान करते हैं, वहीं परवर्ती अभिलेख जीवन के अनेक पक्षों को अपनी समकालीनता में समेटकर, एक धरोहर के रूप में हमें उपलब्ध होते हैं।

इन अभिलेखों के संदर्भ में जहां कहीं भी चर्चा होती है तो स्वतः ही सम्राट् अशोक का नाम स्मृति में आ जाता है। राजाओं के इतिहास में चाहे वह एक सामान्य मनुष्य के रूप में हो या शासक के, सम्राट् अशोक अद्वितीय राजा सिद्ध हुआ है। उसके उत्कृष्ट गुणों के मूल्यांकन के लिए अनेक राजाओं से उसकी तुलना की गई है। उसने धर्मतंत्र के उच्चतम आदर्शों के अनुरूप सदाचार के राज्य की स्थापना का यत्न किया है। अशोक ने बौद्धधर्म को स्वीकार कर, उसे स्थानीय धर्म से विश्वधर्म के रूप में अवस्थित कर दिया। उसका धर्म मानव धर्म था और उसने इस धर्म के माध्यम से आमजन को अनेक प्रकार की आचारपरक शिक्षाएँ प्रदान की है।

अशोक के अभिलेखों में निहित आचारपरक शिक्षाएँ :

नैतिकता अशोक के धम्म की आधारशिला थी, जिस पर उसका धम्मरूपी महल निर्मित हुआ था। वर्तमान में धार्मिकता को लेकर सम्पूर्ण विश्व में अशांति व्याप्त है लेकिन सम्राट् अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय की शिक्षा देते हुए अपने धर्म को मानव–धर्म बताया है। उस समय प्रायः धम्म के दो रूप प्रचलित थे–कर्मकाण्डमूलक तथा आचारमूलक। अशोक ने कर्मकाण्ड से उत्पन्न धार्मिक कलहों को त्यागते हुए, आचारमूलक तत्त्वों पर ही अधिक बल दिया। धम्म के आचारमूलक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए अशोक कहता है कि 'माता–पिता की उचित सेवा, सर्व प्राणियों के प्रति आदर–भाव तथा सत्यता ही मेरे धम्म के आचारपरक सिद्धान्त हैं। इन धर्मगुणों की वृद्धि होनी चाहिए। इसी भांति शिष्यों को गुरुओं का आदर करना चाहिए तथा सम्बन्धियों से उचित व्यवहार उत्तम है। एक अन्य अभिलेख में अन्य आचरणीय तत्त्वों का उल्लेख, वह इस प्रकार करता है–'दास, भृत्यों तथा वेतनभोगी सेवकों के साथ उचित व्यवहार, माता–पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, श्रमणों और साधुओं के प्रति उदारता, प्राणियों में संयम, पशुबलि में विरक्तता होनी चाहिए।''[1] इससे स्पष्ट है कि उसका धम्म मूल रूप में आचरणों का विधान था। अहिंसा उसके धम्म का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व था और उदारता एवं अनुग्रह उसके दो प्रमुख सम्बल थे। दया, सत्य, साधुता शौच, संयम के साथ ही

कृतज्ञता, दृढ़भक्ति और दान आदि भी उसके धम्म के सारभूत तत्त्वों में से हैं।[2] इन तत्त्वों को दृष्टिगत करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका धम्म गूढ़ क्रियावादी, रूढ़िवादी व कर्मकाण्डवादी नहीं था, वह विशुद्ध व्यावहारिक, सर्वग्राह्य तथा आचारपरक शिक्षाओं से पूर्णतः समन्वित था।

आचारपरक शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से है, जो मानव को आदर्श अथवा उच्च बनाती है, सृष्टि में उसकी उपयोगिता अभिवर्द्धित करती हैं और आनन्द, सुख और प्रमोद आदि का वातावरण–निर्माण करती है। आचारयुक्त शिक्षा व्यक्ति के व्यवहार पक्ष को उन्नत करती है तथा सबके सम्मुख उसका प्रकटीकरण करती है। यद्यपि अशोक के अभिलेखों का उद्देश्य राजाज्ञाएं प्रचारित करना ही था, तथापि उस राजाज्ञा का अभिप्राय उच्चतर सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करना और समाज में सुशासन, शान्ति, समृद्धि और आनन्द के वातावरण का निर्माण करना भी था। इन अभिलेखों में 'अपासिनवे' (पापों से दूर रहना), 'बहुकयाने' (अनेक कल्याणकारी कार्य करना), दया, दान, सदाचार, परोपकारवृत्ति, सत्यनिष्ठा, अहिंसा, आत्मसंयम, धर्मानुराग, त्यागवृत्ति, समता, करुणा, क्षमाभाव, शुश्रूषा आदि आचारपरक शिक्षा की व्यापक आवश्यकता एवं महत्ता पर प्रकाश डाला गया है, जिनसे मनुष्यों को अपनी जीवन–शैली एवं मूल्यों के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिलता है। अशोक के इन अभिलेखों में समाहित आचारपरक शिक्षाओं का विवेचन इस प्रकार है–

अहिंसा की शिक्षा : अहिंसा को विश्वशान्ति का मुख्य–आधार माना गया है। अतः विश्व के सभी धर्मों, समाजों और संस्कृतियों में किसी न किसी रूप में अहिंसा की अवधारणा अवश्य ही प्राप्त होती है। वेदों में 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः[3] के रूप में एक–दूसरे की सुरक्षा की बात कहकर, जहाँ अहिंसा को प्रतिष्ठापित किया गया है, वहीं जैनधर्म के पंचमहाव्रतों, बौद्धधर्म के पंचशीलों और योगदर्शन के पंचयमों में भी अहिंसा को प्रथम–स्थान प्राप्त है। वर्तमान शिक्षा में अहिंसा की शिक्षा की न्यूनता दिखाई पड़ती है जबकि अहिंसा के महत्त्व को अशोक के अभिलेखों में भी अनेक–स्थानों पर आचारपरक शिक्षा के रूप में उत्कीर्ण किया गया है। यथा–

जीवेन जीवे नो पुसितविये[4]–जीव के द्वारा जीव का पोषण नहीं करना चाहिए।

नो किछि जीवे आलभितु पजोहितविये[5]–किसी जीव को मारकर आहुति नहीं करनी चाहिए।

इमानि जातानि अवधियानि[6]–ये उत्पन्न जीव अवध्य हैं।

मुनिसानं धंमवडि वडिता अविहिंसाये भुतानं अनालंभाये पानानं[7]–भूतों की अहिंसा और प्राणियों के अनालंभ (अनारंभ) में मनुष्य की धर्मवृद्धि अधिक हुई है।

उपर्युक्त अवधिय (अवध्य) और अनालंभ (अनारंभ) का शाब्दिक अर्थ 'वाध अथवा हिंसा नहीं करना' ही है। ये दोनों शब्द अहिंसा के ही पूरक हैं। अहिंसा में पूर्णतः सफल न होने वालों के लिए एक राजाज्ञा के द्वारा अग्रलिखित प्राणियों को अवध्य घोषित किया गया है–

तोता, मैना, अरूण (लाल छाती वाली चिड़िया), चकवा, हंस, नन्दीमुख, गेलाट, जतुक (चमगादड़), रानी चींटी, दुडि (एक कछुआ), अस्थिहीन मछली, वेदवेयक, मुर्गा, सांप के आकार की मछली, कछुआ, साही, बड़ा खरगोश, बारहसिंघा, सांढ, बन्दर, चिह्नयुक्त मृग, उजला कबूतर, ग्राम्य कबूतर तथा वे सभी चौपाये, जिन्हें न व्यवहार में लाते हैं और न खाते ही हैं, गर्भवती या दूध देने वाली बकरी, भेड़ी, शूकरी या छः महीने के भीतर के बच्चे आदि का वध नहीं करना चाहिए।[8]

इनके अतिरिक्त अभिलेखों में यह भी उत्कीर्ण है कि मुर्गे को बधिया नहीं करना चाहिए तथा जीवयुक्त भूसा भी नहीं जलाना चाहिए। व्यर्थ या हिंसा के लिए जंगल नहीं जलाना चाहिए। तीनों चातुर्मासों की पूर्णिमाओं को या पुष्य–नक्षत्र की पूर्णिमा के तीन दिनों–चतुर्दशी, पंचदशी और प्रतिपदा को तथा उपवास के दिन मछली अवध्य है और बेचे जाने योग्य भी नहीं है। इन दिनों में हाथी वाले वनों और मल्लाहों के तालाबों में जो जीव–समूह हैं, उन्हें न मारें। इसी प्रकार अनेक ऐसे उल्लेखों द्वारा अहिंसा की अधिकाधिक प्रतिष्ठा के लिए विशेष तिथियों में अनेक जीव–जन्तुओं को बधिया न करने की बात कही गयी है।[9] इनके अतिरिक्त सामान्य जनता को निर्देशित किया गया है कि ऐसा उत्सव–त्यौहार नहीं मनाना चाहिए, जिसमें हिंसा और अनाचार होता है। (न च समाजो कतव्यो बहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति)[10]

अहिंसा को प्रभावी बनाने के लिए एक स्थल पर युद्धों के दुष्परिणामों की चर्चा वर्णित है। जहाँ अविजित पर विजय होने के उपरान्त लोगों की हत्या, मरण अथवा अपवाह (कैद) होता है वहाँ जो माता–पिता, गुरु, मित्र आदि की सेवा में निरत लोग होते हैं, उनका भी विनाश, वध अथवा देश से निष्कासन हो जाता है। इससे स्वजनों के प्रति अक्षुण्ण–स्नेह के कारण, जो पीड़ा होती है, उसका हजारवां भाग भी बहुत खेदजनक होता है। अतः सब प्राणियों में संयम, समचर्या और मृदुता की कामना की जानी चाहिए।[11]

दया की शिक्षा : अमरकोश के अनुसार 'दया' का अभिप्राय 'करुणा' एवं 'अनुकम्पा' है। 'भगवद्गीता' के अनुसार 'दया' का अर्थ है–'दया सर्वभूतेषु'। अर्थात् जिसमें जीव का भेदभाव किए बिना सभी पर की जाय, वह दया है। भगवती अराधना विजयोदया टीका के अनुसार सब प्राणियों के ऊँपर उनका दुःख देखकर अंतःकरण आर्द्र होना, दया का लक्षण है।[12] कुरल के अनुसार सभी धर्मों में दया को ही मुक्ति का एकमात्र साधन माना गया है।[13] अशोक के अभिलेख के अनुसार धर्मोन्नति और धर्मपालन से दया की वृद्धि होती है।[14]

उपर्युक्त परम्परागत मूल्य की कमी भी आज की शिक्षा–प्रणाली में दृष्टिगत होती है। विद्यार्थियों पर अनावश्यक दबाव डालकर उनको आत्महत्या की स्थिति तक पहुंचाना आज की शिक्षा–प्रणाली की कमी है।

दान की शिक्षा : स्व और दूसरे का उपकार हो, इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है।[15] अशोक के द्वितीय एवं द्वादश शिक्षा अभिलेख, द्वितीय एवं सप्तम स्तम्भलेख तथा 'बराबर' और 'नागार्जुनी गुहा' अभिलेख में दान का उल्लेख है। द्वितीय स्तम्भ अभिलेख में दो प्रकार के दान का उल्लेख है– चखुदाने (चक्षुदान) एवं आपानदखिनाये (प्राणदान)। इन अभिलेखों में दान का अभिप्राय है– धंमसंविभाग (त्रयोदश शिलालेख), दानसंविभाग (चतुर्थ स्तम्भलेख) और दानविसग (सप्तम स्तम्भलेख)। एकादश शिलालेख में धम्मदान को दान का सर्वोच्च रूप माना गया है।[16]

सत्य की शिक्षा : 'हितभाषणं सत्यम्'[17] अर्थात् हितकर भाषण बोलना सत्य है। बुधघोष के अनुसार सत्य का अर्थ है– ''सचेति वची सचे'' अर्थात् वचन की सत्यता। अशोक के अभिलेखों के अनुसार भी सत्य का अभिप्राय वचन की सत्यता से ही है, जैसा कि ब्रह्मगिरि लघु शिलालेख– 'सचं वतवियं' से स्पष्ट होता है। सातवें स्तम्भलेख के अनुसार सत्य से धर्म में वृद्धि होती है।[18]

शौच–मार्दव–साधव की शिक्षा : 'लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम्'[19]– लोभ के प्रकारों का त्याग करना शौच है तथा 'मृदोर्भावो मार्दवम्'[20]– मृदु का भाव मार्दव है। भगवती आराधना, विजयोदया टीका के अनुसार 'जात्याद्यभिमानाभावो'[21]– अर्थात् जाति आदि अभिमान का अभाव 'मार्दव' है। सातवें स्तम्भलेख में अंकित है कि शौच, मार्दव और साधव (सत्कार्य) से धर्म का सम्पादन और विश्वास दोनों बढ़ता है।[22]

लोक–कल्याण की शिक्षा : पंचम शिलालेख में लोक–कल्याण की चर्चा की गयी है और उसे 'दुष्कर' बताया गया है। षष्ठ शिलालेख के अनुसार प्रशासक का कर्त्तव्य 'लोकहित' और 'पराक्रम' होना चाहिए। परोपकार के सम्बन्ध में मनुष्यों एवं पशुओं के बीच कोई भेदभाव नहीं रखा गया है। कल्याण के कार्यों में औषधियों और फल–वृक्ष के रोपे जाने, सड़कों पर मनुष्यों और पशुओं के लिए छायादार वृक्ष, आम्रवृक्षों की वाटिकाएँ, कुएँ, तालाब एवं जलाशय का निर्माण, विश्रामगृह के निर्माण आदि के विवरण प्रस्तुत हैं।[23] उत्तरप्रदेश के 'गोरखपुर' जिले के 'सोहगौरा' नामक स्थान से प्राप्त कांस्य–फलक–लेख में दुर्भिक्ष के समय लोगों को देने के लिए कोष्ठागारों में अन्न रखे जाने का उल्लेख प्राप्त होते हैं।

क्षमा की शिक्षा : 'बारस अणुवेक्खा' के अनुसार क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाह्य–कारण मिलने पर भी जो किंचित् भी क्रोध नहीं करता है, उसे उत्तम–क्षमाधर्म होता है।[24] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कथन है कि देव, मनुष्य और तिर्यंचों द्वारा घोर व भयानक उपसर्ग पहुँचाने पर भी जो क्रोध से तप्त नहीं होता, उसे निर्मल क्षमाधर्म साधित होता है–

कोहेण जो ण तप्पदि, सुर–णर–तिरिएहि–कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खमा णिम्मला होदि।।

'जौगढ' के प्रथम पृथक् शिलालेख के अनुसार ''जहाँ तक संभव हो, वहाँ तक क्षमा करना चाहिए।''

संयम और भावशुद्धि की शिक्षा : सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियंत्रण संयम है[25] और आत्मा की रुचि का नाम भाव है, जो सम्यक्त्व का कारण होता है।[26] शुद्ध–चैतन्य शुद्धभाव है।[27] 'राजवार्त्तिक' के अनुसार भावशुद्धि संयम की आठ शुद्धियों में से एक है।[28] अशोक के सप्तम शिलालेख में संयम और भावशुद्धि– दोनों के नित्य बढ़ने की कामना करते हुए, कथन है कि सभी सम्प्रदाय संयम और भावशुद्धि चाहते हैं–सवे हि ते संयमं भावसुधी च इछति।[29] द्वादश शिलालेख के अनुसार वाक्संयम सभी धर्मों का मूल है–'इदं मूले अ वचगुति'।[30]

अल्पव्यय–अल्पसंचय की शिक्षा : तृतीय शिलालेख में अल्पव्यय और अल्पसंग्रह को अच्छा बताया गया है–अपबियति अपभंडत साधु। अल्पव्यय करके बचत करनी चाहिए, परन्तु बचत से संचय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अल्पव्यय एवं अल्पसंचय में इस प्रकार संतुलन रखा जाना चाहिए, जिससे न तो अत्यधिक व्यय की और न ही अत्यधिक संचय की ओर प्रवृत्ति बढ़े अर्थात् मितव्ययी और अल्पसंचयी होना चाहिए।

आत्म–पर्यवेक्षण की शिक्षा : तृतीय स्तम्भलेख में आत्म–पर्यवेक्षण पर बल देते हुए उल्लिखित है कि मनुष्य केवल अपने कल्याण के कार्यों को देखता है कि ''उसने यह कल्याण किया। कोई मनुष्य अपना पाप नहीं देखता कि मैंने यह पाप किया है''–'नो मिन पापं देखति इयं मे पापे कटेति।'[31] इस प्रवृत्ति को देखना बहुत कठिन है। इसे इस प्रकार देखना चाहिए कि ये अपराध की ओर ले जाते हैं– चंडता, निर्दयता, क्रोध, घमंड और ईर्ष्या। इन अवगुणों से निन्दा हो सकती है। इसलिए मनुष्यों को यह भांति–भांति अच्छी तरह देखना चाहिए कि ये इस लोक अथवा परलोक के लिए हैं अथवा नहीं।

दोष–निषेध की शिक्षा : धौली के प्रथम पृथक् शिलालेख में मनुष्यों को जिन दोषों से बचे रहने की चेतावनी दी गयी हैं, उनके नाम हैं– ईर्ष्या (इसाय), क्रोध (आसुलोपेन), निष्ठुरता (निठूलियेन), जल्दबाजी (तूलनाय), अकर्मण्यता (अनावूतिय), आलस्य (आलसिय) और थकावट (किलमथ)। इन दोषों को सफलता में बाधक माना गया है।

शील की शिक्षा : चतुर्थ शिलालेख में कथन है कि शील में स्थित रहते हुए धर्मानुशासन करना चाहिए क्योंकि शीलरहित व्यक्ति से धर्माचरण संभव नहीं होता– 'धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसंति। ... धंमचरणे पि न भवति असीलस।'[32] गोम्मटसार के अनुसार प्रकृति, शील और स्वभाव– ये सब एकार्थक हैं।[33]' शीलपाहुड़' के अनुसार पंचेन्द्रिय के विषय से विरक्त होना शील कहलाता है– 'सीलं विसयविरागो।'[34]

सदाचार की शिक्षा : सामान्यतः सदाचार को धर्म का आधार बताते हुए सर्वत्र वर्णित किया गया है कि ''माता–पिता, वृद्धों तथा गुरुओं की शुश्रूषा, जीवों के प्रति दया, सत्यभाषण, शिष्यों द्वारा आचार्य का आदर और सम्बन्धियों के प्रति समुचित व्यवहार–ये सभी धर्म के तत्त्व हैं।[35] ये सभी धर्म के आधार को पूर्णतया व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। अभिलेखों में सदाचार के निम्नलिखित लक्षण उल्लिखित हैं[36]– अपासिनवे (पापों से दूर रहना), बहुकयाने (अनेक कल्याणकारी कार्य करना), दया (दीन–दुःखी प्राणियों पर दया करना), दाने (आवश्यकतानुसार यथाशक्ति सभी को दान देना), सचे (सत्य बोलना) और सोचये (शरीर, वचन और विचार की शुद्धता)। नवम शिलालेख में दास और सेवकों के प्रति उचित–व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों के प्रति संयम, श्रमण–ब्राह्मण को दान तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों को सदाचार और महान् फलवाला बताया गया है–''महाफले ये धंममगले। हेता इयं दासभटकसि संम्यापटिपाति गुलुना अपचिति पानानं संयमे समन बभनानं दाने एसे अंने चा हेडिसे धंममंगले नामा।''[37] ये सभी तत्त्व सदाचार में समाहित हैं।

धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा : वर्तमान समाज में धार्मिक सहिष्णुता के अभाव में सर्वत्र अशांति व्याप्त है। अतः इस शिक्षा की समाज में महती आवश्यकता है। अशोक के अभिलेखों में साम्प्रदायिकता की समस्याओं पर विजय पाने के लिए सभी धर्मों पर बल देते हुए कहा गया है कि 'समन्वय ही श्रेष्ठ है' तथा सभी धर्म समान हैं। सभी धर्मों के प्रति आदरभाव रखते हुए धर्म के सार्वभौमिक–सार को ग्रहण करना चाहिए। (शालावडि ना बहुविधा) इसके अतिरिक्त सभी धर्मों के पुष्पित और पल्लवित होने की कामना की गयी है।[38]

इस प्रकार अशोक के अभिलेखों में 'सर्वधर्म समन्वय' की नीति से ही धर्मनिरपेक्षता के लक्ष्य को प्राप्त करने पर बल दिया गया है तथा उसे राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक अलग धर्म–विभाग बनाने और उसके लिए अनेक धर्माधिकारियों की नियुक्ति के भी उल्लेख, इन अभिलेखों में अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अशोक के अभिलेखों में जो आचारपरक शिक्षाएं विद्यमान हैं वे राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में उल्लेखित नैतिक मूल्यों के ह्रास नामक समस्या का उचित समाधान प्रस्तुत करती हैं। इन अभिलेखों में ये सभी पारम्परिक मूल्य हैं जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं। माता–पिता तथा वृद्धों की सेवा, ब्राह्मणों–श्रमणों के प्रति सेवा एवं आदरभाव, गुरुजनों के प्रति सेवा एवं आदर भाव, सम्बन्धियों के प्रति उचित व्यवहार, दास तथा भृत्यों के प्रति उचित–व्यवहार, मित्र, स्वामी, परिचित, सहायक तथा परिवार के प्रति उचित–व्यवहार, प्राणियों की हिंसा न करना तथा उन पर दया करना, दरिद्र एवं पीड़ित व्यक्तियों के साथ उचित–व्यवहार और नम्रता यथाशक्य क्षमा–भाव रखना, धार्मिक–सहिष्णुता आदि महत्त्वपूर्ण आचारपरक

शिक्षाओं के द्वारा उन पारिवारिक एवं सामाजिक गुणों को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है, जिन पर आदर्श घर–परिवार समाज तथा राष्ट्र का अस्तित्व निर्भर करता है। अशोक के इन अभिलेखों में वर्णित इन शिक्षाओं को अपनाकर समाज, राष्ट्र और विश्व के कल्याण की कामना की जा सकती है। आज हमारी शिक्षा में से ये सभी तत्त्व गायब हो चुके हैं, जिससे वर्तमान समाज में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। यदि हमें इन समस्याओं से निजात पाना है तो हमें शिक्षा के उन मापदण्डों को अपनाना होगा, जिन्हें हमारे प्राचीन शास्त्रों में अपनाया गया था, जिन्हें हम अशोक के अभिलेखों में भी अनेक स्थानों पर देखते हैं।

सन्दर्भ–ग्रन्थ

1. एकादश शिलालेख, गिरनार
2. सप्तम शिलालेख, गिरनार
3. ऋग्वेद, 6.75.14 संपादक श्रीराम शर्मा– संस्कृति संस्थान, बरेली, पंचम संस्करण, 1969
4. पंचम स्तम्भलेख, देहली–टोपरा
5. प्रथम शिलालेख, कालसी
6. सप्तम स्तम्भलेख, देहली–टोपरा
7. वही
8. सुके सालिका अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे
   जतूका अंबाकपीलिका दळी अनठिकमछे वेदवेयके
   गंगा पुपुटके संकुजमछे कफटसयके पंनससे सिमले
   संडके ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गोमकपोते
   सवे चतुपदे ये पटिभागं नो एति न च खादियती
   एळका चा सकूली चा गभिनी वा पायमीना व अवधिय –पंचम स्तम्भलेख, 'दिल्ली–टोपरा'
9. तुसे सजीवे नो झापेतविये दावे अनठाये वा विहिसाये वा नो झापेतविये
   जीवेन जीवे नो पुसितविये तीसु चातुंमासीसु तिसायं पुंनमासियं
   तिंनि दिवसानि चावुदसं पंनडसं पटिपदाये धुवाये चा
   अनुपोसथं मछे अवधिये नो पि विकेतविये –पंचम स्तम्भलेख, 'दिल्ली–टोपरा'
10. प्रथम शिलालेख, गिरनार
11. यावतको जनो तदा.....स्रभागो व गरुमतो देवानं ..न य सक छमितबे या च पि अटवियो देवानं पियस पिजिते पाति.....चते तेसं देवानंपियस ....सवभूतानां अछतिं च सयमं च समचैरं च मादव च.....लघो –त्रयोदश शिलालेख, गिरनार
12. दया सर्वप्राणिविषया, भगवती अराधना विजयोदया टीका–1836/1650/3
13. सर्वे धर्मा हि भाषन्ते दया मोक्षस्य साधनम्–कुरल–25.2
14. सप्तम स्तम्भलेख, देहली–टोपरा
15. अनुग्रहार्थ स्वस्यातिसर्गो दानम्–तत्त्वार्थसूत्र 7/38, आचार्य उमास्वामी
16. नथि एदिसे दाने आदिसे धंम–दाने। –एकादश शिलालेख
17. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, 46.154.16
18. धंमापदाने धंमपटीपति ..... सचे। –सप्तम स्तम्भलेख
19. सर्वार्थसिद्धि 6.13.331.4, आचार्य पूज्यपाद
20. सर्वार्थसिद्धि 6.18.334.12, आचार्य पूज्यपाद
21. भगवती आराधना, विजयोदया टीका 46.154.13
22. धंमापदाने धंमपटीपति च ..... सोचवे मदवे साधवे च लोकस हेवं वढिसति ति। –सप्तम स्तम्भलेख, देहली–टोपरा
23. द्वितीय शिलालेख और सप्तम स्तम्भलेख
24. कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंग जदि हवेदि सक्खादं।
    ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति।। –बारसअणुवेक्खा–71, आचार्य कुन्दकुन्द
25. सम्यक् यमो वा संयमः–धवला टीका, 7/2.1.3/7/3
26. भाव आत्मरुचिः जिनसम्यक्त्वकारणभूतो हेतुभूतः– भावपाहुड़ (टीका), 66.210.18, आचार्य कुन्दकुन्द
27. शुद्धचैतन्यं भावः–प्रवचनसार (ता.वृ.) 115.161.14
28. राजवार्त्तिक, 9.6.16.596.1, आचार्य अकलंकदेव

29. सप्तम शिलालेख, गिरनार
30. द्वादश शिलालेख, गिरनार
31. तृतीय स्तम्भलेख, देहली–टोपरा
32. चतुर्थ शिलालेख, गिरनार
33. पयडी सीलसहावो, गोम्मटसार, कर्मकाण्ड 2.3, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
34. शीलपाहुड–40, आचार्य कुन्दकुन्द
35. चतुर्थ, नवम, एकादश और त्रयोदश शिलालेख, गिरनार
36. द्वितीय स्तम्भलेख, कालसी
37. नवम शिलालेख, गिरनार
38. द्वादश शिलालेख, गिरनार